ISSN 0973-8541, HUMANITIES AND DEVELOPMENT, VOL.20, No.2, April-June, 2025/5

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' में निहित दलित अनुभव

गौतम कुमार एवं राकेश रंजन

https://doi.org/ 10.61410/had.v20i2.233

सारांश

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' दलित साहित्य की महत्वपूर्ण निधि है। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण परिवेश में पले–बढ़े डॉ. तुलसीराम ने अपने जीवन प्रारम्भिक दिनों में हुए भेदभाव को बड़े ही बेबाक तरीके से 'मुर्दहिया' में अंकित किया है। मुर्दहिया का ही अगला अंक 'मणिकर्णिका' के रूप में परिणत हुआ है। उन्होंने अत्यंत ही संतुलित, सुचिंतित, तार्किक एवं सर्जनात्मक ढंग से दलित जीवन की त्रासदी, भेदभाव, अत्याचार इत्यादि को मुर्दहिया के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वे डॉ. अम्बेदकर एवं ज्योतिबा फूले के विचारों से ओत–प्रोत तथा बौद्ध अध्ययन एवं कम्युनिष्ट विचारों से भी प्रभावित रहे हैं। इन सभी विचारों का प्रभाव अलग–अलग मुर्दहिया में देखने को मिलती है। परन्तु डॉ. तुलसीराम किसी एक विचार के साथ बंध कर रहने वाले सख्सियतों में नहीं थे। उन्होंने अलहदा राह चुनी थी, जो मुर्दहिया एवं मणिकर्णिका में भारतीय साहित्य को प्राप्त हुई। इस शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य मुर्दहिया में निहित दलित अनुभव को रेखांकित करना है।

बीज शब्द : सर्जनात्मक, तार्किक, विचारशील, रूढ़िवादी, अविस्मरणीय, सांगठनिक, अवहेलित, मार्मिकता, काकेशियन, बाल्टिक इत्यादि।

परिचय

हिन्दी दलित साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों में डॉ. तुलसीराम का नाम अत्यंत सम्मान से लिया जाता है। उनकी आत्मकथा के दो खंडों 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' उनके यश के मूल आधर हैं, किन्तु साहित्य की अन्य विधाओं में भी लेखनी चलाकर उन्होंने दलित साहित्य को समृद्ध किया है, साथ ही उसे नई दिशा भी प्रदान की है। उनका लेखन दलित चेतना से युक्त होने के बावजूद अत्यंत संतुलित, तार्किक, विचारशील तथा सर्जनात्मक है। उसमें प्रखरता तो है, पर हिंसा भाव नहीं है। उसमें आग तो है, लेकिन वह दाह नहीं देती, जलाती नहीं, बल्कि रोशनी दिखाती है। यही कारण है कि उसे न केवल हिन्दी दलित साहित्य में, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय दलित साहित्य में काफी ऊँचा दर्जा दिया जाता है।

1 जुलाई, 1949 को जनमे डॉ. तुलसीराम इंटरनेशनल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे और इस केन्द्र के अध्यक्ष भी रहे। वे विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन तथा रसियन मामलों के विशेषज्ञ भी थे। इन विषयों के साथ–साथ ट्रांस काकेशियन एवं बाल्टिक राज्यों की राजनीति पर उनके निर्देशन में लगभग 50 शोधार्थियों ने एम. फिल. एवं पी–एच. डी. की डिग्री प्राप्त की।

- **शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिंदी–विभाग,बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।**
- **सहायक प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।**

मुख्य भाग / विमर्श

डॉ. तुलसीराम को अंतरराष्ट्रीय बौद्ध आंदोलन, दलित राजनीति तथा दलित साहित्य में भी गहरी विशेषज्ञता हासिल थी। इन विषयों से संबंधित सैकड़ों लेख उन्होंने लिखे, जो हिन्दी तथा देश और दुनिया की दूसरी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण पत्रा–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। डॉ. तुलसीराम आजीवन धर्मनिरपेक्ष, जड़ता विरोधी तथा समानतावादी तथा न्यायमूलक मूल्यों के पक्षधर रहे। बुद्ध, मार्क्स और डॉ. आंबेडकर को अपना आदर्श मानने वाले डॉ. तुलसीराम हमेशा मनुष्य और समाज का अहित करने वाले, सामाजिक एकता और बहुलता पर आघात करने वाले और मानव के बीच विभेद पैदा करने वाले रूढ़िवादी विचारों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। इसके लिए उन्हें अनेक विरोधें और बहिष्कारों का भी सामना करना पड़ा। भारत जैसे देश में, जिसकी संरचना का आधार वर्ण–व्यवस्था और जातिवाद है, डॉ. तुलसीराम के संघर्ष की कल्पना की जा सकती है।

जहाँ तक न्याय की बात है, जहाँ तक सच का सवाल है, दुर्भाग्य से पूरी दुनिया अनेक आधरों पर बँटी हुई दिखाई देती है। वैश्विक समाज लिंग, जाति, वर्ग, नस्ल, धर्म, सम्प्रदाय, रंग, देश, क्षेत्र, भाषा जैसे अनेक आधारों पर विभक्त और विच्छिन्न दिखाई देता है और ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति में विश्व मानवता की परिकल्पना एक असाध्य साधन बनकर रह गई है। दुःखद है कि सिद्धांतों और विचारधाराओं ने भी जोड़ा कम, तोड़ा ज्यादा है। न्याय यह कहता है कि सब बराबर हैं। सच्चाई यह कहती है कि मानव–मानव में कोई भेद नहीं है। लेकिन, विडंबना यह है कि न्याय और सत्य, इस दुनिया में सबसे अधिक दमित और अवहेलित होने वाले मूल्य हैं।

दलित साहित्य के केन्द्र में न्याय, समानता और स्वतंत्रता के मूल्य सर्वप्रमुख हैं। डॉ. तुलसीराम ने इन मूल्यों के संवर्धन और प्रसार के उद्देश्य से अनेक सर्जनात्मक और सांगठनिक कार्य भी किए। एक संपादक के रूप में भी उनका योगदान अविस्मरणीय माना जाता है। उनके द्वारा संपादित 'अश्वघोष' नामक पत्रिका दलित–साहित्य के विमर्श के क्षेत्र में अत्यंत उल्लेखनीय मानी जाती है।

डॉ. तुलसीराम का लेखन परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'अंगोला का मुक्ति संघर्ष', 'सी.आई.ए. : राजनीतिक विध्वंस का अमरीकी हथियार', 'द हिस्ट्री ऑपफ कम्युनिस्ट मूवमेंट इन ईरान', 'पर्सिया टू ईरान वन स्टेप फारवर्ड टू स्टेप्स बैंकद्ध', 'आइडियोलॉजी इन सोवियत ईरान रिलेशंस 'लेनिन टू स्टालिनद्ध'। ये सभी पुस्तकें विश्व इतिहास से संबंधित अनिवार्य बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर आधुनिक विश्व से जुड़े जरूरी सवालों से हमें रू–ब–रू कराती हैं। ट्रांस काकेशियन तथा बाल्टिक राज्यों सहित दुनिया के अनेक दूसरे भूखंडों में हुए राजनीतिक, सामाजिक बदलावों से हमारा परिचय करानेवाली ये पुस्तकें अपने न्याय और अधिकार के लिए संघर्षरत मनुष्य की गाथाएँ भी हमारे सामने लाती हैं। 13 फरवरी, 2015 को डॉ. तुलसीराम हमारे बीच नहीं रहे, लेकिन उनका लेखन हमें हमेशा राह और रोशनी दिखाता रहेगा।

'मुर्दहिया' डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा का पहला खंड है। इसकी सर्जनात्मकता को देखते हुए हिन्दी आलोचकों ने इसकी अत्यंत प्रशंसा की है और इसे उपन्यास के गुणों से भरपूर माना है। हिन्दी के प्रायः सभी आलोचक यह मानते हैं कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' के दोनों खंड तथा डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा के दोनों खंडों 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' हिन्दी दलित आत्मकथा के क्षेत्र में मील के पत्थर ही नहीं, बल्कि दूसरे दलित आत्मकथा लेखकों के लिए प्रकाश–स्तंभ भी हैं। 'मुर्दहिया' में लेखक ने अपने जीवन के दुःख, दैन्य, संघर्ष, अपमान, बहिष्कार,

अभाव, दरिद्रता आदि विडंबनापूर्ण स्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है तथा सहज–संवेदनशील ढंग से भारत की उस वर्णवादी सामाजिक संरचना की आलोचना की है जिसके कारण हजारों वर्षों तक एक बहुत बड़े समुदाय को मानवीय अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है। आजादी के बाद साहित्य में 'भोगे हुए यथार्थ' की बारम्बार चर्चा की जाती रही है। यदि इन आत्मकथाओं को देखें तो हिन्दी साहित्य की उक्त अवधारणा दलित साहित्य के संदर्भ में बहुत तीखेपन के साथ उभरकर सामने आती है।

लेखक ने लिखा है ''जीवन से लेकर मरण तक की सारी गतिविधियाँ 'मुर्दहिया' समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विशेष रूप से मरे हुए पशुओं के मांस पिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला–स्थली के रूप में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की 'हुआँ–हुआँ वाली आवाज' उसकी निर्जनता को भंग कर देती थी। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुःख–दर्द अपने अंदर लिये मुर्दहिया में दफन हो गये थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती, तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता।''[1]

लेखक ने उपरिलिखित वक्तव्य के बाद एक वाक्य लिखा है, जो जितना मार्मिक है, उतना ही दलित बस्ती के जीवन के यथार्थ की भीषणता को प्रकट करनेवाला भी ''मुर्दहिया सही मायनों में हमारी दलित बस्ती की जिन्दगी थी।''[2] मुर्दहिया का प्रकाशन 2010 ई. में हुआ था। इसके प्रकाशन से हिन्दी में दलित आत्मकथा को बड़ा संबल प्राप्त हुआ। इसमें अंर्तनिहित दलित चेतना और उसकी गहन मार्मिकता ने हिन्दी भाषा–भाषी पाठकों के मर्म का स्पर्श किया। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा के दूसरे खंड 'मणिकखणका' में आगे के जीवन–संघर्ष और वैचारिक जीवन–यात्राा का वर्णन है। अपने गृह जनपद आजमगढ़ से निकल कर लेखक ने करीब 10 साल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बिताए। काशी से जुड़े अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए वे लिखते हैं ''गंगा के घाटों और बनारस के मंदिरों से जो यात्रा शुरू हुई थी, वह अंततोगत्वा कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में समाप्त हो गई। मार्क्सवाद ने मुझे विश्वदृष्टि प्रदान की, जिसके चलते मेरा व्यक्तिगत दुःख दुनिया के दुःख में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठा। मुर्दहिया में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे मणिकर्णिका में विकसित हुए।''[3]

मणिकर्णिका में लेखक ने अपने जीवनानुभवों का वर्णन करते हुए उस खास समय को भी विश्लेषित किया है, जिसके भीतर अनेक प्रवृत्तियों का सघन संघर्ष चल रहा था। बनारस मानों 'मणिकर्णिका' के पृष्ठों पर जीवंत हो उठा है। इस स्मृति आख्यान में अनेक वैचारिक संघर्षों के साथ कोलकाता और वहाँ का बौद्धिक वर्ग भी उपस्थित है। 'मणिकर्णिका' डॉ. तुलसीराम के जीवन–संघर्ष की ऐसी महागाथा है जिसमें भारतीय समाज की अनेक विद्रूपताएँ स्वतः उद्घाटित होती जाती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा के दोनों खंड दलित–जीवन के संघर्ष और विचार–यात्रा की उथल–पुथल को गहनता और गंभीरता के साथ व्यक्त करते हैं।

अस्तु, प्रस्तुत आलेख में हम डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा के पहले खंड 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त दलित चेतना के स्वरूप, उसकी विशेषताओं और उसके आयामों का विश्लेषण करेंगे।

दलित आत्मकथाओं में अवैध यौन संबंधों और मरे हुए पशु का मांस खाने के प्रसंग अक्सर आते हैं। मुर्दहिया का एक ऐसा ही एक विवरण देखा जा सकता है जिसमें दोनों तरह के प्रसंग वर्णित हैं। यह विवरण थोड़ा लंबा है, किन्तु अनिवार्य होने के कारण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ''पिता जी के सबसे बड़े भाई, जिनका नाम सोम्मर था, बारह गाँवों के चमारों के चौधरी चुने गए थे। भारत की आजादी के पूर्व न जाने कब से पूर्वी उत्तरप्रदेश के अनेक क्षेत्रों की एक परंपरा के अनुसार चमारों का 'बारहगांवा' होता था, अर्थात् बारह गाँव के चमारों की एक वृहद पंचायत होती थी, जिसमें कोई एक व्यक्ति सर्वसम्मति से चौधरी चुना जाता था। इस चौधरी को व्यावहारिक रूप में एक न्यायाधीश की तरह अधिकार प्राप्त होता था। 'बारहगांवा' के चमार अपने किसी भी आपसी झगड़े के निपटारे के लिए चौधरी के पास आते फिर पंचायत बुलाई जाती, जिसमें घंटों की माथापच्ची के बाद चौधरी अपना अंतिम फैसला देते, जो तुरंत सभी को मान्य हो जाता था।

बारहगांवा के चौधरी के समक्ष जो समस्याएँ लाई जातीं, उनमें दो मामले बड़े विचित्र ढंग से सुलझाए जाते थे। इनमें से एक मामला होता था कि किसी युवती का गांव के किसी अन्य व्यक्ति के साथ यौन संबंध या उसका बिन ब्याह गर्भवती हो जाना तथा दूसरा था किसी चमार द्वारा मरे हुए पशु गाय, बैल, या भैंस का मांस खाया जाना। मरे हुए पशु का मांस खाने के संदर्भ में एक उल्लेखनीय तथ्य है कि आजादी के पूर्व हमारे क्षेत्र के सभी चमार गाय, बैल तथा भैंस मर जाने पर उसका मांस खा जाते थे। मेरी बुढ़िया दादी अक्सर मुझे सोते समय अपनी युवा अवस्था के अनेक संस्मरण सुनाया करती थी, जो अत्यंत रोचक एवं चमत्कारिक हुआ करते थे। दादी के ये संस्मरण उसकी शतकीय उम्र को देखते हुए संभवतः सन् 1860 या 70 के दशक के मालूम पड़ते हैं। मैं इन संस्मरणों को बहुत ध्यान से सुनता था। एक ऐसे ही संस्मरण में दादी ने बताया कि जब ब्याह कर हमारे गांव आई तो देखा कि गांव में किसी की गाय, भैंस या बैल मर जाता तो पास स्थित जंगल में ले जाकर उसका चमड़ा निकाला जाता पिफर उसके बाद गंड़ासे और कुल्हाड़ियों से काट–काटकर उसका मांस सारे दलित बांस से बनी हुई टोकरियों में भरकर घर लाते। मांस काटने का काम प्रायः महिलाएँ करती थीं। दादी यह भी बताती कि जिस समय कोई चमार पुरुष मरे हुए जानवर का चमड़ा निकालना शुरू करता, अचानक सैकड़ों की संख्या में वहाँ गिद्ध मंडराने लगते तथा दर्जनों कुत्ते आकर भौंकने लगते थे। कुछ सियार भी चक्कर मारते किन्तु कुत्तों और महिलाओं की उपस्थिति को देखते हुए वे पास नहीं आ पाते। मरे पशु के मांस के बंदरबांट में महिलाओं के साथ कुत्तों और गिद्धों में उग्र होड़ मच जाती थी। दादी भी उस होड़ में शामिल हुआ करती थी। दादी मांस के कुछ हिस्से को आवश्यकतानुसार तुरंत पकाती किन्तु अधिकांश बचे हुए कच्चे मांस को कई दिन तक तेज धूप में सुखाती। खूब सूख जाने पर मांस को कच्ची मिट्टी से बनी कोठिली में रखकर बंद कर देती। इस प्रक्रिया से सूखे मांस का भंडारण बढ़ता जाता और साल के उन महीनों में जब खाने की वस्तुओं का टोटा पड़ जाता तो सूखे मांस को नए तरीके से पका–पकाकर परिवार के लोग अपना पेट भरते। मरे हुए इन पशुओं के मांस को 'डांगर' कहा जाता था। आजादी के बाद चमारों ने डांगर खाना बंद करने का अभियान चलाया, जो अत्यंत सफल रहा। स्मरण रहे कि यह अभियान मूल रूप से बाबा साहेब अम्बेडकर ने चलाया था किन्तु हमारे बारहगांवा में उन्हें कोई नहीं जानता था, बल्कि जगजीवन राम काफी लोकप्रिय थे।''[4]

डॉ. तुलसीराम ने विद्यालय में पढ़ने जाने के कारण का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है ''मैं लगभग 5 साल का हो चुका था। यह सन् 1954 की बात है। हमारे परिवार के जो लोग आसनसोल और कोलकाता में खानों और मीलों में काम करते थे, कभी–कभी पोस्टकार्ड पर चिट्ठियाँ भेजा करते थे। हमारी दलित बस्ती में कोई पढ़ा–लिखा नहीं था। गांव में ब्राह्मण ही पढ़े–लिखे थे। वे अक्सर दलितों की चिट्ठियाँ पढ़ने में आना–कानी करते तथा पढ़ने के समय अपमानजनक बातें सुनातें। इस व्यवहार से ऊब कर घर वालों की कृपादृष्टि सबसे छोटा होने के कारण मेरे उफपर पड़ी। परिणामस्वरूप प्राइमरी स्कूल में मुझे चिट्ठी पढ़ने लायक बनाने के उद्देश्य से भेजा जाने लगा।''[5]

इस प्रसंग में यह गौर करने लायक है कि लेखक ने अपने पूरे टोले, यानी मुर्दहिया की निरक्षरता का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि निरक्षर होने के कारण टोले के लोगों को अपमानजनक टिप्पणियों और स्थितियों का सामना करना पड़ता था। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के लिए सम्मान की बात उठाई थी। समता, समानता और न्याय की हिमायत उन्होंने सम्मान और मानवीय गरिमा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की थी। डॉ. तुलसीराम ने भी अपनी आत्मकथा में अपने समुदाय के द्वारा झेली जाने वाली अपमानजनक स्थितियों की तरपफ इशारा किया है। निश्चित तौर पर इस इशारे के पीछे उनकी दलित चेतना ही अभिव्यक्त हुई है।

डॉ तुलसीराम ने अध्ययन के दौरान प्राइमरी स्कूल में खुद के साथ होने वाले बर्ताव का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है ''हम सभी दलित थे। मुंशी जी की उपस्थिति में हमें कोई अन्य बच्चा नहीं छूता था। ऐसे ही वातावरण में शुरू हुई मेरी शिक्षा।... दलित बच्चों को वे मुंशी जी 'चमरकीट' कह कर अपना गुस्सा प्रकट करते। इस तरह पहली ही कक्षा में मुंशी जी का आतंक बच्चों पर छा गया।''[6]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त उद्धरण में लेखक ने छुआ–छूत जैसी कुप्रथा का उल्लेख ही नहीं किया है, भारत की उस भाषा–संस्कृति की ओर भी संकेत किया है, जो वर्णवादी भेद–भाव पर आधारित है।

अपने टोले की तकलीफों, उसके संघर्षों, उसकी अमानवीय परिस्थितियों और उसकी अनकही व्यथा को लेकर, यानी मुर्दहिया की स्मृतियों को लेकर लेखक अनेक बार विषाद और व्यथा की गहरी भावना से भर जाता है। लेखक ने जिन अमानुषिक परिस्थितियों में अपना बचपन गुजारा, उनकी अभिव्यक्ति किसी अन्य के लिए असंभव है। दलित समुदय के किसी अबोध बालक का जीवन ऐसा भी हो सकता है, इसे समझना किसी गैर दलित बालक के लिए मुश्किल है। ऐसी परिस्थितियों के लिए कोई व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता। डॉ. तुलसीराम मुर्दहिया से जुड़ी अपनी स्मृतियों की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते हैं ''मुर्दहिया के संदर्भ में सन् 1957 का 'भादों' का महीना मेरे जीवन का एक विशेष यादगार वाला महीना है। उस समय हिन्दू धर्म के अनुसार 'खरमास' यानी बहुत अपशगुन वाला महीना था। इस बीच मेरे पिताजी जिस सुदेस्सर नामक ब्राह्मण की हरवाही करते थे, उनकी बुढ़िया माँ मर गई। उनके ही पट्टीदार अमिका पांडे ने 'पतरा' देखकर बताया कि अभी पंद्रह दिन खरमास है, इसलिए मृत मां का दाह संस्कार नहीं हो सकता। यदि ऐसा किया गया तो माता जी नरक भोगेंगी। उन्होंने सुझाव दिया कि माताजी की लाश को मुर्दहिया में एक जगह कब्र खोदकर गाड़ दिया जाए, तथा पंद्रह दिन बाद निकालकर लाश जलाकर दाह–संस्कार हिन्दू रीति से किया जाए। मेरे पिता जी मुझे लेकर मुर्दहिया पर कब्र खोदने गए। वे फावड़े से कब्र खोदते रहे और मैं मिट्टी हटाता रहा। जब कब्र तैयार हो गई तो सुदेस्सर पांडे अपने पट्टीदारों के साथ लाश को लाकर उस कब्र में डाल

दिया गया। दफनाने से पहले टोटकावश सुदेस्सर पांडे ने कफन के एक कोने में सोने की मुनरी गठिया दी थी। एक अंधविश्वास के अनुसार किसी लाश के कफन में सोना बांधने से वह जल्दी नहीं सड़ेगी। ऐसा ही ब्राह्मणों के सुझाव पर किया गया था। पिताजी ने कुछ कंटीली अकोल्ह की झाड़ियां काटकर कब्र के ऊपर डाल दी थीं ताकि लाश को सियारों से बचाया जा सके। ऐसा करके सभी अपने घर लौट आए। सुदेस्सर पांडे रोज मेरे पिताजी को मुर्दहिया पर भेजते कि वे कब्र को देख आवें, क्योंकि सियारों द्वारा खोदकर लाश को खा जाने की आशंका हमेशा बनी रहती थी। पिताजी काम में व्यस्तता के कारण दो–चार दिन बाद स्वयं न जाकर मुझे कब्र देखने के लिए शाम के समय स्कूल से लौटते हुए मुर्दहिया पर जाने की हिदायत देते रहे। मैं वैसा ही करता था किन्तु कब्र के नजदीक नहीं जाता। थोड़ी दूर से ही देख लेता। वैसे स्कूल का रास्ता भी मुर्दहिया के पास से ही गुजरता था। इस तरह पंद्रह दिन जैसे–तैसे बीत गए और पिताजी के साथ मेरी माँ भी कब्र की रखवाली की अवधि समाप्त हो गई, साथ ही खरमास भी गुजर गया। अब बारी थी पांडे की माताजी को कब्र से बाहर निकालकर उनकी लाश को जलाने की। मेरे पिताजी उन पंद्रह दिनों के दौरान प्रायः यह कहते थे कि कहीं कोई चोर–डाकू उस सोने की मुनरी के लालच में कब्र खोदकर लाश को बाहर न कर दे। यदि ऐसा हुआ तो बड़ा अनर्थ होगा। सुदेस्सर पांडे की हरवाही से पिताजी का इतना लगाव था कि वे उनकी माताजी की लाश को लेकर पांडे से कहीं ज्यादा चिंतित रहते थे। आखिर लाश निकालने का समय अमिका पांडे के उस दैवी पतरा के अनुसार निर्धरित किया गया। सुदेस्सर पांडे दो–चार फावड़ा मिट्टी हटाकर दूर खड़े हो गए। सड़ांध आने के डर से उनके पट्टीदार भी दूर भाग गए। पिता जी कब्र में मिट्टी फावड़े से हटाते रहे। किनारे लाई गई भुरभुरी मिट्टी फिर से कब्र में न गिरने पावे, इसलिए पिताजी मुझे मिट्टी पीछे ढेलने के लिए कहते रहे। मैं वैसा ही करता रहा। अंततोगत्वा कब्र में कफन वाला सफेद कपड़ा दिखाई देने लगा। एकाएक उस सड़ी लाश की दुर्गंध से सारा वातावरण डगमगा गया। सुदेस्सर पांडे भी मुँह पर गमछा बांधे दूर भाग गए और वहीं से पिता जी से कहते रहे कि वे सोने वाली मुनरी को पहले ढूँढ़कर कफन से निकाल लें। यह एक अजीब स्थिति थी। उस दिन मेरे मन में पहली बार यह बात समझ में आयी थी कि किसी के लिए माँ की लाश की अपेक्षा सोना कितना प्रिय था। पिताजी ने मुझे भी गमछा मुँह पर बांध लेने को कहा। मैंने वैसा ही कर लिया। उस समय सारे ब्राह्मण वहाँ से चम्पत हो गए। सुदेस्सर पांडे भी दूर हो खड़े रहे। पिताजी ने जैसे–तैसे सड़ी लाश को पैर की तरपफ से उठाकर मेरे हाथों में पकड़ा दिया और स्वयं सिर की तरपफ से पकड़ लिया। अपार दुर्गन्ध और घृणा से मजबूर हम दोनों ने उस लाश को बाहर निकालकर पहले से ही पास में सजाई चिता पर रख दिया। कफन से छुड़ाकर उस सोने की मुनरी को धूल से रगड़कर पिता जी ने सुदेस्सेर पांडे के हवाले कर दिया। वे बड़ी मुश्किल से मुँह–नाक बांध लाश के पास आए और आग जलाकर चिता को जला दिए। पांडे पुनः भागककर दूर चले गए। वहाँ सिर्फ मैं और पिताजी खड़े रहे और लाश को जलाते रहे। इस बीच आग कम होती देखकर पिताजी ने पलाश की डालियाँ तोड़कर चिता में डाल दीं। उधर सूरज डूबने वाला था। धीरे–धीरे अंधेरा फैल रहा था। बड़ा डर लगने लगा। जैसे–तैसे लाश जलाई गई और हम फावड़ा लेकर वापस आ गए। हमारे घर के पीछे एक छोटी–सी पोखरी थी। हम उसमें जाकर खूब नहाये। पिताजी ने नहाने के बाद उसी अपने द्वारा लगाए गए पीपल के पेड़ की जड़ के पास घी का दीया जलाकर पूजा की। पूजा की विधि उनकी वही चिर–परिचित रो–रोकर किसी से बातें करने वाली जैसे उस दिन भी रही। मुर्दहिया न जाने कितने वर्षों से अनगिनत लोगों के दुःख–दर्द को जलाकर राख करती आ रही थी। और न जाने कितने लोगों

के दुःख को अपनी धरती में दफना लिया था और आगे भी इन दुःखों को जलाती दफनाती रहेगी। उस दिन मुझे भी बड़ी गहराई से अनुभूति हुई थी कि मेरे भी अंदर एक मुर्दहिया जन्म ले चुकी थी, जिसमें भविष्य के न जाने कितने ही दुःख–दर्द जलने और दफन होने वाले थे। जब मैं पंद्रह वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल पास करने के बाद पढ़ाई छूट जाने के कारण घर से 1964 में भागा तो उसी मुर्दहिया से होकर अंतिम बार गुजरा था। वैसे तो मैं अकेला ही था, किन्तु हकीकत तो यही थी कि चल पड़ी थी मेरे साथ मुर्दहिया भी। जब मुझे यह मालूम हुआ कि दुनिया में दुःख, दुःख का कारण है और उसका निवारण भी, तो ऐसा लगा कि इस सत्य को ढूँढ़ने से पहले तथागत गौतम बुद्ध कभी न कभी मेरी मुर्दहिया से अवश्य गुजरे होंगे।''[7]

निष्कर्ष

इस बात के अनेक कारण हैं कि 'मुर्दहिया' हिन्दी में अत्यंत प्रशंसित हुई है और इसे उपन्यास के गुणों से भरपूर माना गया है। 'मुर्दहिया' में लेखक ने अपने जीवन के दुःख, दैन्य, संघर्ष, अपमान, बहिष्कार, अभाव, दरिद्रता आदि विडंबनापूर्ण स्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है तथा सहज–संवेदनशील ढंग से भारत की उस वर्णवादी सामाजिक संरचना की आलोचना की है जिसके कारण हजारों वर्षों तक एक बहुत बड़े समुदाय को मानवीय अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है।

संदर्भ–सूची :

1. मुर्दहिया, डॉ. तुलसीराम, प्रकाशक–राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2021, पृष्ठ–5
2. वही
3. मणिकर्णिका, डॉ. तुलसीराम, प्रकाशक–राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2021, पृष्ठ–6
4. मुर्दहिया, डॉ. तुलसीराम, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण–2021, पृष्ठ–14–16
5. वही, पृष्ठ–21
6. वही, पृष्ठ–23–24
7. वही, पृष्ठ–50–52